बस्तर की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा का प्रतीक है बस्तर दशहरा

ओम प्रकाश सोनी

प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण, मनमोहक भू-दृश्यावली से सुशोभित बस्तर अपनी आदिम संस्कृति और रीति-रिवाजों के कारण अलग आकर्षण लिये हुए है, जिसके कारण हर कोई बस्तर की तरफ खिंचा चला आता है। बस्तर की आदिवासी संस्कृति में बहुत से ऐसे उत्सव एवं त्यौहार हैं, जो कि सदियों पुरानी परंपराओं और रस्मों के अनुपम संग्रहालय हैं। इन उत्सवों के मूल में आपसी सहयोग और संगठन भावना जैसे महत्वपूर्ण कारकों का योगदान रहता है। बस्तर के उत्सव धर्मिता के रंग पूरे संसार में अपनी खूबसूरती बिखेर देते हैं। बस्तर में प्रकृति, कृषि और देवी-देवताओं से जुड़े त्यौहारों में आदिवासी सभ्यता के आकर्षक पहलुओं को जानने समझने के लिए जनसमूह का तांता लगा रहता है। बस्तर के सभी उत्सवों में से आज सदियों से प्रचलित बस्तर का दशहरा आज विश्व प्रसिद्ध हो चला है। लाखों का जन समूह इस दशहरे में शरीक होकर आनंद की अनुभूति करता है। दशहरा पूरे विश्व में बुराई पर अच्छाई के विजय का प्रतीक माना जाता है। बुराई रूपी रावण का पुतला दहन कर उस अच्छाई का विजय उत्सव मनाया जाता है।

बस्तर के दशहरे में रावण दहन नहीं होता, वरन् रथ खींचा जाता है। विशाल काष्ठ रथ पर बस्तर की आराध्या माँ दंतेश्वरी का प्रतीक छत्र आरूढ़ किया जाता है। दशहरा, बस्तर की वो सांस्कृतिक पूंजी है, जिसमें भक्ति भाव, भाई-चारा एवं उत्साह उमंग एक साथ दिखायी पड़ते हैं। बस्तर में विजयादशमी पर तंत्र-मंत्र के साथ देवी आराधना और शस्त्र पूजा कर देवी दशहरा मनाते रहे हैं। इसलिए बस्तर में रावण दहन की परंपरा नहीं है। बस्तर दशहरा पूरी तरह से माँ दंतेश्वरी को समर्पित पर्व है, इसलिए विजया दशमी पर विशाल रथ में माँ दंतेश्वरी का छत्र विराजित किया जाता है। जैसे मैदानी इलाके में रावण वध के बाद भगवान राम की अयोध्या वापसी पर दशहरा और दीपावली मनायी जाती है। वैसे ही बस्तर दशहरा में शामिल होने दंतेवाड़ा से आयी माँ दंतेश्वरी के स्वागत में मावली परघाव और प्रतीक के रूप में उनके छत्र को विशाल रथ में स्थापित कर दो दिन रथ परिक्रमा की जाती है, जिसे भीतर और बाहर रैनी कहते हैं।

बस्तर दशहरा विश्व का सर्वाधिक दीर्घावधि वाला पर्व है, जो 75 दिनों तक चलता है। किसी-किसी साल में अधिक मास के कारण यह दशहरा कुल 105 दिनों का हो जाता है, जो कि अपने-आप में सर्वाधिक लंबे समय तक चलने वाला दशहरा पर्व का विश्व कीर्तिमान बनाता है। बस्तर दशहरा की परंपराओं में जितनी रोचकता है, उतनी ही रोचकता इसके इतिहास में भी दिखायी पड़ती है। बस्तर दशहरा के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लाला जगदलपुरी जी अपनी पुस्तक 'बस्तर : इतिहास और संस्कृति' में कहते हैं कि महाराज पुरुषोतम देव ने बस्तर से उड़िसा के जगन्नाथपुरी धाम तक पैदल ही यात्रा की थी। वहाँ जगन्नाथ धाम में पूजा अर्चना की। जगन्नाथ मंदिर के पुजारी को भगवान जगन्नाथ ने स्वप्न में दर्शन दिया और पुजारी को रथपति घोषित करने की आज्ञा दी।

इस आदेश के पालन में पुजारी ने राजा पुरुषोत्तम देव को रथपति की उपाधि दी। उसके बाद रथपति पुरुषोत्तम देव ने बस्तर के गोंचा एवं दशहरा पर्व में रथ यात्रा प्रारंभ की। पहले 12 पहिये का रथ चलाया जाता था, किंतु बाद में 04 एवं 08 पहिये के दो रथ चलाये जाने लगे। बस्तर प्राचीन काल से देवी शक्तियों का बस्तर रहा है, जिसके कारण देवी भक्त राजाओं ने देवी के सम्मान में बहुत से उत्सव प्रारंभ किये। वैसे ही पुरुषोत्तम देव ने रथ में देवी दंतेश्वरी के प्रतीकों को विराजित कर दशहरा में रथ चलाने की परंपरा प्रारंभ की। धीरे-धीरे दशहरा में बहुत-सी नयी परंपराएं जुड़ती गयीं और बस्तर दशहरा की आवश्यक अंग बन गयीं।

हरेली अमावस्या अर्थात् तीन माह पूर्व से दशहरा की तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं। इस दिन बस्तर दशहरा की सबसे पहली रस्म पाट जात्रा का विधान पूरा किया जाता है। रथ निर्माण में प्रयुक्त होने वाली पहली लकड़ी को स्थानीय बोली में टूरलु खोटला एवं टीका पाटा कहते हैं। दशहरे के लिए तैयार किये जाने वाले रथ निर्माण में लगने, लकड़ी ग्राम बिलौरी से लायी जाती है। परंपरानुसार विधि-विधान के साथ रथ निर्माण करने वाले कारीगरों एवं ग्रामीणों के द्वारा माँझी चालाक मेम्बरीन के साथ स्थानीय जनप्रतिनिधियों की मौजूदगी में पूजा विधान एवं बकरे की बलि के साथ पाट जात्रा की रस्म संपन्न की जाती है।

पाटजात्रा के बाद डेरी गड़ाई की रस्म बेहद महत्वपूर्ण रस्म है। जगदलपुर के सिरासार भवन में माँझी चालकी मेंबर-मेंबरिन की उपस्थिति में पूरे विधि-विधान के साथ डेरी गड़ाई रस्म पूर्ण की जाती है। डेरी गड़ाई रस्म में बिरिंगपाल के ग्रामीण साल की दो शाखा युक्त दस फीट की लकड़ी लाते हैं, जिसे हल्दी का लेप लगाकर प्रतिस्थापित किया जाता है। इसे ही डेरी कहते हैं। इसकी प्रतिस्थापना ही 'डेरी गड़ाई' कहलाती है। दशहरा की विभिन्न रस्मों में मोंगरी मछली की बलि दी जाती है, जिसकी व्यवस्था समर्थ परिवार करता है। वहाँ उपस्थित महिलाएँ हल्दी खेलकर खुशियाँ मनाती हैं। इस रस्म के बाद बस्तर दशहरा के विशालकाय काष्ठ रथों का निर्माण कार्य प्रारंभ हो जाता है। बेडा और झार उमरगाँव के लगभग 150 कारीगर मिलकर विशाल रथों का निर्माण करते हैं।

बस्तर दशहरा में काष्ठनिर्मित विशालकाय रथ सभी के आकर्षण का केंद्र होते हैं। दुमंजिला भवन का भव्य रथ बनाने वाले कारीगरों के पास भले ही किसी अभियांत्रिकी की उपाधि न हो, लेकिन जिस कुशलता और समय प्रबंधन से इसे तैयार किया जाता है, वह आश्चर्य का विषय है। ये शिल्पी जिस कुशलता के साथ दो मंजिले रथ का निर्माण करते हैं, वह 40 फुट ऊँचा और 32 फुट लंबा होता है। इसकी चौड़ाई 20 फिट होती है।

रथ परिचालन का सारा दारोमदार पहियों पर ही होता है। रथ का पहिया बनाने के लिए मजबूत लकड़ियों के दो अर्धगोलाकार आकृतियों को आपस में बिठाकर पूर्ण गोलाकार चक्कों का रूप दिया जाता है। इन चारों चक्कों का आकार, मोटाई व उनके बीच बने नार का निर्माण ऐसे होता है कि रथ को खींचने के लिए कम से कम बल लगाया जाता है। कारीगरों के सदियों पुराने इस हुनर का फल ये आकर्षक रथ होते हैं, जो कि पूरी दुनिया में बस्तर दशहरा की पहचान बन चुके हैं। रथ निर्माण के बाद दशहरा पर्व समीप आता

जाता है और फिर नवरात्रि से पूर्व आश्विन मास की अमावस्या के दिन काछिनगादी की रस्म निभायी जाती है। काछिनगादी रस्म के निर्वहन के बाद ही दस दिवसीय दशहरा की औपचारिक शुरूआत हो जाती है।

'काछिनगादी' का अर्थ है–काछिन देवी को गद्दी देना। काछिन देवी की गद्दी काँटेदार होती है। कांटेदार झूले की गद्दी पर काछिनदेवी विराजित होती है। काछिनदेवी को रण देवी भी कहते हैं। बस्तर दशहरा में काछिन गादी की रस्म महाराज दलपतदेव 1721 से 1775 ई. के समय तक मानी जाती है। बस्तर संस्कृति और इतिहास में लाला जगदलपुरी जी कहते हैं कि जगदलपुर में पहले जगतु माहरा का कबीला रहता था, जिसके कारण यह जगतुगुड़ा कहलाता था। जगतु माहरा ने हिंसक जानवरों से रक्षा के लिए बस्तर महाराज दलपतदेव से मदद मांगी। दलपतदेव को जगतुगुड़ा भा गया उसके बाद दलपत देव ने जगतुगुड़ा में बस्तर की राजधानी स्थानांतरित की। जगतु माहरा और दलपतदेव के नाम पर यह राजधानी जगदलपुर कहलायी। दलपतदेव ने जगतु माहरा की ईष्ट देवी काछिनदेवी की पूजा अर्चना कर दशहरा प्रारंभ करने की अनुमति मांगने की परंपरा प्रारंभ की। तब से अब तक प्रतिवर्ष बस्तर महाराजा के द्वारा दशहरा से पहले आश्विन अमावस्या को काछिनदेवी की अनुमति से ही दशहरा प्रारंभ करने की प्रथा चली आ रही है।

जगदलपुर में पथरागुड़ा जाने वाले मार्ग में काछिनदेवी का मंदिर बना हुआ है। काछिन गादी रस्म में बस्तर राजा सायं को बड़े धूम-धाम के साथ काछिनदेवी के मंदिर आते हैं। पनका जाति की कुंवारी कन्या में काछिनदेवी सवार होती हैं। कार्यक्रम के तहत सिरहा काछिन देवी का आह्वान करता है, तब उस कुंवारी कन्या पर काछिनदेवी सवार होकर आती हैं। काछिन देवी चढ़ जाने के बाद सिरहा उस कन्या को कांटेदार झुले में लिटाकर झुलाता है। फिर देवी की पूजा अर्चना की जाती है। काछिनदेवी से स्वीकृति मिलने पर ही बस्तर दशहरा धूम-धाम के साथ आरंभ हो जाता है। काछिन देवी कांटों से जीतने का संदेश देती है वहीं बस्तर दशहरा में हरिजन समाज से जुड़ी रस्मों का निवर्हन इस बात का प्रमाण है कि बस्तर में अस्पृश्यता का कोई स्थान नहीं है।

काछिनगादी के बाद सबसे महत्वपूर्ण रस्म है–जोगी बिठाई। आश्विन शुक्ल प्रथमा से दशहरा में नवरात्र कार्यक्रम प्रारंभ होता है। नवरात्रि के प्रथम दिन कलश स्थापना की जाती है। नवरात्र के पहले दिन ही सिरासार, भवन में जोगी बिठाई का कार्यक्रम होता है। इस कार्यक्रम में आमाबाल गाँव का व्यक्ति विधि-विधान से जोगी के रूप में बिठाया जाता है। सिरासार भवन में एक आदमी समाने लायक गड्ढा खोदा जाता है। मावली देवी की पूजा-अर्चना के बाद जोगी को उसमें बैठाया जाता है। जोगी नौ दिनों तक वहीं गड्ढे में रहता है, जिसके लिए दुग्ध एवं फलों की व्यवस्था रहती है। चारों तरफ कपड़ा लगाया जाता है, ताकि उसे बुरी नजर से बचाया जा सके। जोगी बिठाई के बारे में लाला जगदलपुरी जी अपनी पुस्तक बस्तर संस्कृति इतिहास में लिखते हैं कि कभी दशहरे के अवसर पर एक ग्रामीण दशहरा निर्विघ्न संपन्न हो, इसलिए वह अपने ढंग से योग साधना में बैठ जाया करता था। वह नौ दिन तक योगासन में बैठा रहता है। बस्तर की आदिवासी परंपरा में किसी भी शुभ कार्य के लिए सबसे पहले देवी-देवताओं को याद

किया जाता है। कुछ रस्मों-रिवाजों एवं कार्यक्रमों में देवी-देवताओं की उपस्थिति बेहद ही अनिवार्य होती है। बस्तर में देवी दंतेश्वरी के बिना दशहरा पर्व संभव ही नहीं है। देवी दंतेश्वरी दसवीं सदी से वर्तमान काल तक बस्तर की आराध्या देवी हैं। पूर्व में नागवंशी राजाओं एवं परवर्ती काकतीय चालुक्य राजाओं ने देवी को अपनी ईष्ट देवी मानकर आराधना की। दशहरा में देवी दंतेश्वरी की डोली स्वयं जगदलपुर जाती है। देवी के छत्र को राजा या पुजारी अपने हाथों में लेकर रथारूढ़ होते हैं। आश्विन शुक्ल पंचमी को राज परिवार के सदस्य, माँझी चालकियों का दल जगदलपुर से दंतेवाड़ा में माई जी के मंदिर में दशहरा निमंत्रण देने के लिए आते हैं। विनय पत्रिका अक्षत सुपारी सहित बस्तर महाराजा के द्वारा देवी दंतेश्वरी के चरणो में अर्पित की जाती है। देवी से दशहरा में सम्मिलित होने की गुहार लगायी जाती है। न्यौते को स्वीकार करने के बाद देवी की प्रतीक मावली माता की प्रतिमा जो नये कपडे में हल्दी का लेप लगाकर बनायी जाती है। देवी दंतेश्वरी एवम् मावली देवी की पूजा-अर्चना कर डोली में विराजित किया जाता है। अष्टमी को देवी दंतेश्वरी की डोली पुजारी एवं सेवादार के साथ जगदलपुर रवाना होती है।

जोगी बिठाई के दूसरे दिन अर्थात् अश्विन शुक्ल द्वितीया से सप्तमी तक रथ चलाया जाता है। दशहरा के लिए दो रथ बनाये जाते हैं। पहला चार चक्कों वाला फूलरथ और दूसरा आठ चक्को वाला रैनी रथ। महाराज पुरुषोत्तम देव के समय 12 पहिये वाला रथ चलाया जाता था, किंतु रथ चालन में कठिनाईयों के कारण आठ चक्कों एवं चार चक्कों के दो रथ चलाये जाने लगे। अश्विन शुक्ल द्वितीया से सप्तमी तक चार पहियों वाला फूलरथ चलाया जाता है। रथ निर्धारित मार्गों में ही चलाया जाता है। माँ दंतेश्वरी के छत्र को फूलरथ में विराजित कर मावली मंदिर की परिक्रमा करायी जाती है। इस मौके पर जिला पुलिस बल के जवान हर्ष फायर कर माता को सलामी देते हैं।। रथ चालन का इस कार्यक्रम को देखने के लिए जगदलपुर में लोगों को हुजूम उमड़ता है। रथ पर राजा देवी का छत्र लेकर आसीन होता है। इस रथ को फूलों से सजाया जाता है, जिसके कारण इसे फूल रथ कहते हैं।

दशहरे की भीड़ में गाँव-गाँव से आमंत्रित देवी-देवताओं के साज-बाज आज भी देखने को मिल जाते हैं। उनके छत्र डंगइयाँ घंटे बैरक घंटे शंख तोड़ियाँ आदि सब अपनी-अपनी जगह ठीक-ठाक हैं, आज भी लोग श्रद्धा भक्ति से प्रेरित होकर रथों की रस्सियाँ खींचते हैं। रथ के साथ-साथ नाच गाने भी चलते हैं। मुंडा लोगों के मुंडा बाजे बज रहे होते हैं। नाइक पाइक माझी कोटवार आदि तो आज भी चल रहे होते हैं, पर पहले सैदार-बैदार पड़ियार और राजभवन के नौकर चाकर भी अपने-अपने राजसी पहनावे में चलते रहते हैं। पहले रथ प्रतिदिन सीरासार चौक से ठीक समय पर चलकर शाम को एक निश्चित समय पर सिंह द्वार के सामने पहुँच जाता है। बस्तर दशहरे की रस्म में एक रस्म बेल एक रस्म बेल पूजा की भी होती है। ग्राम सरगीपाल में राजपरिवार और अन्य श्रद्धालु बेल पेड़ पर पूजा-अनुष्ठान के बाद युग्म बेल फल लेकर दंतेश्वरी मंदिर आते हैं। ग्रामीण गाजे-बाजे के साथ पूजा के बाद विवाह की भांति एक-दूसरे को तेल-हल्दी लगाकर लोगों का स्वागत व विदाई करते हैं।

बस्तर दशहरा में फूल रथ की पाँचवीं परिक्रमा के बाद सोमवार की देर रात दंतेश्वरी मंदिर के पुजारी व माँझी-मुखिया सरगीपाल जाते हैं। जहाँ बरसों पुराने बेल फल के वृक्ष के तले देवी का आह्वान करते युग्म

(जोड़ा) बेल फल को कपड़े से बांधते हैं। परंपरानुसार बरसों से दशहरा के दौरान अश्विन शुक्ल पक्ष सप्तमी को बेल पूजा की जाती है। इस रस्म को ग्रामीण पुत्री विवाह की तरह मानते हैं। पूजा के बाद वे एक-दूसरे पर हल्दी-पानी का छींटा मारते हैं। ग्रामीण मान्यता के अनुसार बेल पेड़ व फल को ग्रामीण माता दुर्गा का दूसरा रूप मानते हैं, इसलिए दशहरा के मौके पर फूल रथ की पांचवीं परिक्रमा पूर्ण होने के बाद बेल न्यौता व बेल पूजा की जाती है। अश्विन शुक्ल अष्टमी की आधी रात निशाजात्रा गुड़ी में पूजा अनुष्ठान के बाद राज परिवार की मौजूदगी में ग्यारह करों की बलि दी जाती है। अष्टमी की रात को देश की खुशहाली के लिए देवियों को मछली कुम्हड़ा और बकरों की बलि दी जाती है। रात 12 बजे राजपरिवार भैरमदेव की पूजा अर्चना कर हवन स्थल में 11 बकरों की बलि दी जाती है। निशाजात्रा में माँ को अर्पण बकरे को प्रसाद के रूप में नवमी के दिन पुजारियों सहित शहर के नागरिकों के घर-घर पहुँचाया जाता है।

बस्तर की आराध्य माँ दंतेश्वरी अष्टमी को ऐतिहासिक बस्तर दशहरा में शामिल होने जगदलपुर रवाना होती हैं। माईजी की डोली के साथ पुजारी सेवादार समरथ मांझी व चालकी के साथ 12 परगना के लोग शामिल होते हैं। डोली और छत्र मंदिर से आतिशबाजी के साथ निकलते हैं। हजारों श्रद्धालु देवी के स्वागत एवं पूजा अर्चना के लिए पलके बिछाये खड़े रहते हैं। देवी रात्रि को जगदलपुर में जिया डेरा विश्राम करती हैं। सुबह देवी की स्वागत एवं पूजा अर्चना की जाती है।

दशहरा पर्व का 'मावली परघाव' विधान आश्विन शुक्ल नवमी कुटरूबाड़ा के समक्ष पूरी की जाती है। दंतेवाड़ा से आयी माईजी के डोली, छत्र आदि का स्वागत राजपरिवार के सदस्य, राजगुरु, दंतेश्वरी मंदिर के पुजारी, राजपुरोहित के नेतृत्व में माँझी-मुखिया करते हैं। इस कार्यक्रम के तहत दंतेवाड़ा से श्रद्धापूर्वक दंतेश्वरी की डोली में लायी गई मावली मूर्ति का स्वागत किया जाता है। मावली देवी को दंतेश्वरी का ही एक रूप मानते हैं। नये कपड़े में चंदन का लेप देकर एक मूर्ति बनायी जाती है और उस मूर्ति को पुष्पाच्छादित कर दिया जाता है। यही है मावली माता की मूर्ति। मावली माता निमंत्रण पाकर दशहरा पर्व में सम्मिलित होने जगदलपुर पहुँचती हैं। इससे पहले गीदम रोड स्थित जियाडेरा में ठहरे माईजी की डोली, छत्र सहित विभिन्न देवी-देवताओं की डोली, छत्र, लाट, बैरग आदि लिए ग्रामीणों की विशाल शोभायात्रा गाजे-बाजे और आतिशबाजी के साथ निकाली जाती है। मावली परघाव के दिन ही जोगी उठाई का कार्यक्रम भी संपन्न किया जाता है। नौ दिनों से सिरासार भवन में योग साधना में बैठा जोगी आज के दिन सम्मानपूर्वक उठाया जाता है।

विजयादशमी के दिन भीतर रैनी के कार्यक्रम होते हैं, इसमें आठ पहियों वाला विशाल रैनी रथ चलता है। इस रथ को किलेपाल परगना के 56 गाँव से आए 'माड़िया जनजाति' के लोगों ही खींचते हैं। इसके बाद नये बनाये गए दो मंजिला 8 चक्कों के रथ में मांई दंतेश्वरी की डोली को पूरे रस्म-रिवाज के साथ मुख्यद्वार (दंतेश्वरी मंदिर सिंह ड्योढ़ी) के सामने से डोली को रथारूढ़ किया जाता है। भीतर रैनी अर्थात् विजयादशमी के दिन यह रथ अपने पूर्ववर्ती रथ की ही दिशा में अग्रसर होता है।

इस रथ पर झूले की व्यवस्था रहती है, जिस पर पहले रथारूढ़ शासक वीर वेश में बैठा झूला करता था।

मांई की डोली जैसे ही रथ पर सवार होती है, उसके बाद रस्म के हिसाब से इसे चुराने की परंपरा का निर्वहन किया जाता है। रथ चुराने के लिए किलेपाल, गढ़िया एवं करेकोट परगना के 55 गाँवों से 4 हजार से अधिक ग्रामीण यहाँ पहुँचे हैं। रातों-रात ग्रामीणों ने इस रथ को खींचकर करीब पाँच किमी दूर कुम्हड़ाकोट के जंगलों में ले जाते हैं। इसके बाद रथ को यहाँ पेड़ों के बीच में छिपा दिया जाता हैं। रथ चुराकर ले जाने के दौरान रास्ते भर उनके साथ आंगादेव सहित सैकड़ों देवी-देवता भी साथ रहते हैं। लाला जगदलपुरी जी अपनी पुस्तक 'बस्तर : इतिहास और संस्कृति' में बाहर रैनी के बारे में कुछ महत्वपूर्ण जानकारियाँ देते हैं। उनके अनुसार कुमढ़ाकोट राजमहलों से लगभग दो मील दूर पड़ता है। कुमढ़ाकोट में राजा देवी को नया अन्न अर्पित कर प्रसाद ग्रहण करते थे। बस्तर दशहरे की शोभा यात्रा में कई ऐसे दृश्य हैं, जिनके अपने अलग-अलग आकर्षण हैं और उनसे पर्याप्त लोकरंजन हो जाता है।

इधर रथ चोरी होने के बाद राजा, राजगुरु एवं अन्य लोगों के साथ कुम्हडाकोट जाते हैं। यहाँ पहले नये फसल के अनाज को ग्रामीणों के साथ पकाने के बाद इसका भोग राजपरिवार के सदस्य करते हैं। इसके बाद चोरी हुए रथ को वापस लाने के लिए ग्रामीणों को मनाया जाता है। देर शाम रथ को बस्तर महाराज अपनी अगुवाई में लेकर वापस दंतेश्वरी मंदिर पहुँचते हैं। रथ को वापस लाने की रस्म को बाहर 'रैनी' रस्म कहा जाता है। इस दशहरे में एक बेहद ही रोचक कार्यक्रम का आयोजन होता है। यह कार्यक्रम मुरिया दरबार के नाम से जाना जाता है। अश्विन शुक्ल द्वादश के दिन काछिन जात्रा के बाद सायं को जगदलपुर के सिरासार भवन में मुरिया दरबार का आयोजन होता है।

मुरिया दरबार में बस्तर के राजा एवं प्रजा के बीच विचारों का आदान-प्रदान होता था। बस्तर के प्रत्येक माँझी चालक अपने क्षेत्र की समस्याओं को राजा के सम्मुख रखते थे। समस्याओं एवं शिकायतों के निवारण हेतु खुली चर्चाएं होती थीं। यह मुरिया दरबार बस्तर का प्रमुख आकर्षण है, जिसमें प्रजातंत्र को प्रोत्साहित किया जाता था। बस्तर में भले ही आदिवासी किसी भी समाज का ही क्यों ना हो सब के लिए मुरिया शब्द का ही प्रयोग प्रचलित है। यह एक तरह से बस्तर की पहचान है। इसीलिए इस आयोजन को आदिवासी दरबार ना कहकर मुरिया दरबार के नाम से ही जाना जाता है।

मुरिया दरबार का आयोजन 1876 से प्रारंभ हुआ है। बस्तर का मुक्तिसंग्राम में हीरालाल शुक्ल ने पहले मुरिया दरबार को आयोजन के बारे लिखा है। 1876 के मुरिया विद्रोह को देखते हुए उस समय सिरोंचा के डिप्टी कमिश्नर मैकजार्ज ने राजा एवं प्रजा में मेल कराने के लिए 8 मार्च 1876 को जगदलपुर में पहले मुरिया दरबार का आयोजन किया था। इस प्रकार मुरिया दरबार का सूत्रपात हुआ, बाद में मुरिया दरबार का यह आयोजन बस्तर के दशहरे का प्रमुख एवं सार्थक प्रजातांत्रिक आकर्षण बन गया। बस्तर दशहरा में शामिल हुए बस्तर के देवी-देवताओं को अश्विन शुक्ल त्रयोदशी को 'गंगा मुंडा कुटुंब जात्रा' में पूजा-अनुष्ठान के बाद विदाई दी जाती है। देवी दंतेश्वरी के अलावा विभिन्न देवी-देवताओं के छत्र-डोली आदि जात्रा स्थल पर पहुँचते हैं। इस कार्यक्रम को ओहाडी कहते हैं। पहले बस्तर दशहरा के विभिन्न जात्रा कार्यक्रमों में सैकड़ों पशुमुंड कटते थे जात्रा का अर्थ होता है–यात्रा अर्थात् महायात्रा (बलि)। बस्तर अंचल शाक्तों (शक्तिपूजकों) का अंचल है। पर आज यह प्रथा बंद-सी हो गयी।

यहाँ दशहरे में शामिल हुए सभी परगनाओं के देवी-देवताओं के छत्र, डोली, लाट, बैरग आदि लेकर पुजारी पहुँचते हैं।

कुटुंब जात्रा के बाद दशहरा समिति की ओर से सभी देवी-देवताओं के पुजारियों को रुसुम देकर ससम्मान विदा किया जाता है। बस्तर के अन्य देवी-देवताओं की विदाई के बाद दंतेवाड़ा की देवी को विदाई दी जाती है। सबसे अंत में बस्तर दशहरा मनाने आयी माँ दंतेश्वरी को अश्रुपूरित आँखों से हजारों भक्त विदाई देते हैं। सबसे पहले माता की विशेष पूजा होती है तत्पश्चात् राज परिवार माता को विभिन्न वस्तुओं की भेंट देकर बस्तरवासियों पर सदैव कृपा करने की प्रार्थना करते हैं। महाआरती के बाद राजपरिवार के सदस्य माता की डोली लेकर स्वयं मंदिर से बाहर आते और माता को जिया डेरा तक छोड़ने जाते हैं। इस दौरान जवानों द्वारा माता को सलामी दी जाती है।

बस्तर दशहरा का रस्मों-रिवाज सामाजिक समरसता एवं लोक सहकर्मिता की अनूठी मिसाल पेश करता है। समाज में व्याप्त छुआछूत व तमाम रूढ़ियों को खत्म करते हुए सभी जातियों व समुदायों का इस महापर्व में प्रमुख योगदान रहता है। जैसे जंगल से लकड़ी लाना व रथ निर्माण के लिए बकावंड जनपद के संवरा लोगों की जवाबदेही तय है। इसी प्रकार रथ खींचने के लिए रस्सी बनाने का जिम्मा करंजी, सोनाबाल व केशरपाल गाँवों के लोगों को सौंपा गया है। बलि के लिए लाये गए बकरों के देखभाल की जिम्मेदारी घाटलोहंगा क्षेत्र के मिलकू परिवार की है। लोहंडीगुड़ा जनपद के गढ़िया गाँव के लोगों को रथ पर सीढ़ी लगाने का काम सौंपा गया है। आठ पहियों वाले रैनी रथ को खींचने का काम किलेपाल के माड़िया समाज के लोग करते आ रहे हैं।

भूतपूर्व चित्रकोट रियासत से लेकर बस्तर रियासत तक के राजकीय चालुक्य राजपरिवार की ईष्ट देवी और बस्तर अंचल के समस्त लोक-जीवन की अधिष्ठात्री देवी माँ दंतेश्वरी के प्रति श्रद्धाभक्ति की सामूहिक अभिव्यक्ति का पर्व बस्तर दशहरा है। विगत छः सौ वर्षों से अनवरत बस्तर दशहरा हर्षोल्लास के साथ मनाया जा रहा है। समय के साथ-साथ इस दशहरे में कई नयी-नयी रस्मों का जुड़ाव हुआ तो कहीं पुरानी रस्में भुला दी गयी। आधुनिकता की छाया बस्तर दशहरा के वर्तमान स्वरूप में भी दिखलायी पड़ती है। नये-नये साधनों के प्रयोग से इसके मूल स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। अंत में लाला जगदलपुरी के शब्दों में बस्तर दशहरा बहु-आयामी है। धर्म, संस्कृति, कला, इतिहास और राजनीति से इसका प्रत्यक्ष संबंध तो जुड़ता ही है साथ-साथ परोक्ष रूप से बस्तर दशहरा समाज की उच्च एवं परिष्कृत सांस्कृतिक परंपरा का साक्षी भी बनता है। आज का बस्तर दशहरा पूर्णतः दंतेश्वरी का दशहरा है। बस्तर दशहरे की यह एक तंत्रीय पर्व प्रणाली आज के बदलते जीवन मूल्यों में भी दर्शकों को आकर्षित करती चल रही है। यह इसकी एक बड़ी बात है। कहना न होगा आज का जो बस्तर दशहरा हम देख रहे हैं, वह हमें अपने गौरवशाली अतीत से जोड़ता है। एक ऐसा अतीत, जो बस्तर के आदिवासियों की अमूल्य धरोहर है, किंतु जिस पर संपूर्ण भारतवासी गर्व करते हैं।

ओम प्रकाश सोनी,

सहायक प्राध्यापक (इतिहास), शासकीय शहीद बापूराव स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

सुकमा (छ.ग.)